

‘संथारा’ और अहिंसा’

हिंसा का मतलब है—प्रमाद या रागद्वेष या आसक्ति। उसका त्याग ही अहिंसा है। जैन ग्रन्थों में प्राचीन काल से चली आने वाली आत्मघात की प्रथाओं का निषेध किया है। पहाड़ से गिरकर, पानी में डूबकर, जहर खाकर आदि प्रथाएँ मरने की थीं और हैं—धर्म के नाम पर भी और दुनयबी कारणों से भी। जैसे पशु आदि की बलि धर्म रूप में प्रचलित है वैसे ही आत्मबलि भी प्रचलित रही। और कहीं-कहीं अब भी है; खासकर शिव या शक्ति के सामने। एक तरफ से ऐसी प्रथाओं का निषेध और दूसरी तरफ से प्राणान्त अनशन या संथारे का विधान। यह विरोध जरूर उलभन में डालने वाला है पर भाव समझने पर कोई भी विरोध नहीं होता। जैन धर्म ने जिस प्राणनाश का निषेध किया है वह प्रमाद या आसक्ति पूर्वक किये जाने वाले प्राणनाश का ही। किसी ऐहिक या पारलौकिक संपत्ति की इच्छा से, कामिनी की कामना से और अन्य अभ्युदय की वांछा से धर्मबुध्या तरह-तरह के आत्मवध होते रहे हैं। जैन धर्म कहता है वह आत्मवध हिंसा है। क्योंकि उसका प्रेरक तत्व कोई न कोई आसक्त भाव है! प्राणान्त अनशन और संथारा भी यदि उसी भाव से या डर से या लोभ से किया जाय तो वह हिंसा ही है। उसे जैन धर्म करने की आज्ञा नहीं देता। जिस प्राणान्त अनशन का विधान है, वह है समाधिमरण। जब देह और आध्यात्मिक सद्गुण-संयम—इनमें से एक ही की पसंदगी करने का विषम समय आ गया तब यदि सचमुच संयमप्राण व्यक्ति हो तो वह देह रक्षा की परवाह नहीं करेगा।

१ जैन शास्त्रों में जिसे संथारा या समाधिमरण कहा गया है, उसके संबन्ध में लिखते हुए हमारे देश के सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् डा० एस० राधाकृष्णन ने अपने ‘इंडियन फिलॉसफी’ नामक ग्रन्थ में ‘Suicide’ (जिसका प्रचलित अर्थ ‘आत्मघात’ किया जाता है) शब्द का व्यवहार किया है। सन् १९४३ में जब श्री भँवरमल सिन्धी ने जेल में यह पुस्तक पढ़ी तो इस विषय पर वास्तविक शास्त्रीय दृष्टि जानने की उत्सुकता हुई और उन्होंने प्रज्ञाचक्रु पं० सुखलालजी को एक पत्र लिखकर अपनी जिज्ञासा प्रकट की; उसके उत्तर में यह पत्र है।

मात्र देह की बलि देकर भी अपनी विशुद्ध आध्यात्मिक स्थिति को बचा लेगा; जैसे कोई सच्ची सती दूसरा रास्ता न देखकर देह-नाश के द्वारा भी सतीत्व बचा लेती है। पर उस अवस्था में भी वह व्यक्ति न किसी पर रुध होगा, न किसी तरह भयभीत और न किसी सुविधा पर तुष्ट। उसका ध्यान एकमात्र संयत जीवन को बचा लेने और समभाव की रक्षा में ही रहेगा। जब तक देह और संयम दोनों की समान भाव से रक्षा हो, तबतक दोनों की रक्षा कर्त्तव्य है। पर एक की ही पसंदगी करने का सवाल आवे तब हमारे जैसे देहरक्षा पसंद करेंगे और आध्यात्मिक संयम की उपेक्षा करेंगे, जब कि समाधिभरण का अधिकारी उल्टा करेगा। जीवन तो दोनों ही हैं—दैहिक और आध्यात्मिक। जो जिसका अधिकारी होता है, वह कसौटी के समय पर उसी को पसंद करता है। और ऐसे ही आध्यात्मिक जीवन वाले व्यक्ति के लिए प्राणान्त अनशन की इजाजत है; पामरों, भयभीतों या लालचियों के लिए नहीं। अब आप देखेंगे कि प्राणान्त अनशन देह रूप धर का नाश करके भी दिव्य जीवन रूप अपनी आत्मा को गिरने से बचा लेता है। इसलिए वह खरे अर्थ में तात्त्विक दृष्टि से अहिंसक ही है। जो लेखक आत्मघात रूप में ऐसे संधारे का वर्णन करते हैं वे मर्म तक नहीं सोचते; परन्तु यदि किसी अति उच्च उद्देश्य से किसी पर रागद्वेष बिना किए संपूर्ण मैत्रीभावपूर्वक निर्भय और प्रसन्न हृदय से बापू जैसा प्राणान्त अनशन करें तो फिर वे ही लेखक उस मरण को सराहेंगे, कभी आत्मघात न कहेंगे, क्योंकि ऐसे व्यक्ति का उद्देश्य और जीवनक्रम उन लेखकों की आँखों के सामने हैं, जब कि जैन परंपरा में संधारा करने वाले चाहे शुभाशयी ही क्यों न हों, पर उनका उद्देश्य और जीवन क्रम इस तरह सुविदित नहीं। परन्तु शास्त्र का विधान तो उसी दृष्टि से है और उसका अहिंसा के साथ पूरा मेल भी है। इस अर्थ में एक उपमा है। यदि कोई व्यक्ति अपना सारा धर जलता देखकर कोशिश से भी उसे जलने से बचा न सके तो वह क्या करेगा? आखिर में सबको जलता छोड़कर अपने को बचा लेगा। यही स्थिति आध्यात्मिक जीवनेच्छु की रहती है। वह खामख्वाह देह का नाश कभी न करेगा। शास्त्र में उसका निषेध है। प्रत्युत देहरक्षा कर्त्तव्य मानी गई है पर वह संयम के निमित्त। आखिरी लाचारी में ही निर्दिष्ट शर्तों के साथ देहनाश समाधिभरण है और अहिंसा भी। अन्यथा बालमरण और हिंसा।

भयङ्कर दुष्काल आदि तङ्गी में देहरक्षा के निमित्त संयम से पतन होने का अवसर आवे या अनिवार्य रूपसे मरण लाने वाली विमारियों के कारण खुद को और दूसरों को निरर्थक परेशानी होती हो और फिर भी संयम या सद्गुण की रक्षा सम्भव न हो तब मात्र संयम और समभाव की दृष्टि से संधारे का विधान है

जिसमें एक मात्र सूक्ष्म आध्यात्मिक जीवन को ही बचाने का लक्ष्य है। जब वापूजी आदि प्राणान्त अनशन की बात करते हैं और मशरूवाला आदि समर्थन करते हैं तब उसके पीछे यही दृष्टिबिन्दु मुख्य है।

❀

❀

❀

यह पत्र तो कब का लिखा है। देरी भेजने में इसलिये हुई है कि राधाकृष्णन के लेखन की जाँच करनी थी। श्री दलसुखभाई ने इस विषय के खास ग्रन्थ 'मरण विभक्ति प्रकीर्णक' आदि देखे जिनमें उस ग्रन्थ का भी समावेश है जिसके आधार पर राधाकृष्णन ने लिखा है। वह ग्रन्थ है, आचारांग सूत्र का अंग्रेजी भाषान्तर अध्ययन-सात। राधाकृष्णन ने लिखा है सो शब्दशः ठीक है। पर मूलसंदर्भ से छोटा सा टुकड़ा अलग हो जाने के कारण तथा व्यवहार में आत्मबध अर्थ में प्रचलित 'स्युसाईड' शब्द का प्रयोग होने के कारण पढ़ने वालों को मूल-मंतव्य के बारे में भ्रम हो जाना स्वाभाविक है। बाकी उस विषय का सारा अध्ययन और परस्पर परामर्श कर लेने के बाद हमें मालूम होता है कि यह प्रकरण संलेखना और संधारे से संबन्ध रखता है। इसमें हिंसा की कोई छू तक नहीं है। यह तो उस व्यक्ति के लिए विधान है जो एकमात्र आध्यात्मिक जीवन का उम्मेदवार और तदर्थ की हुई सत्प्रतिज्ञाओं के पालन में रत हों। इस जीवन के अधिकारी भी अनेक प्रकार के होते रहे हैं। एक तो वह जिसने जिनकल्प स्वीकार किया हो जो आज विच्छिन्न है। जिनकल्पी मात्र अकेला रहता है और किसी तरह किसी की सेवा नहीं लेता। उसके वास्ते अन्तिम जीवन की घड़ियों में किसी की सेवा लेने का प्रसंग न आवे, इसलिये अनिवार्य होता है कि वह सावध और शक्त अवस्था में ही ध्यान और तपस्या आदि द्वारा ऐसी तैयारी करे कि न मरण से डरना पड़े और न किसी की सेवा लेनी पड़े। वही सब जवान-देहियों को अदा करने के बाद बारह वर्ष तक अकेला ध्यान तप करके अपने जीवन का उत्सर्ग करता है। पर यह कल्प मात्र जिनकल्पी के लिये ही है। बाकी के विधान जुदे-जुदे अधिकारियों के लिए हैं। सबका सार यह है कि यदि की हुई सत्प्रतिज्ञाओं के भङ्ग का अवसर आवे और वह भङ्ग जो सहन कर नहीं सकता उसके लिए प्रतिज्ञाभंग की अपेक्षा प्रतिज्ञापालनपूर्वक मरण लेना ही श्रेय है। आप देखेंगे कि इसमें आध्यात्मिक वीरता है। स्थूल जीवन के लोभ से, आध्यात्मिक गुणों से न्युत होकर मृत्यु से भागने की कायरता नहीं है। और न तो स्थूल जीवन की निराशा से ऊबकर मृत्यु मुख में पढ़ने की आत्मबध कहलाने वाली बालिशता है। ऐसा व्यक्ति मृत्यु से जितना ही निर्भय, उतना ही उसके लिए तैयार भी रहता है। वह जीवन-प्रिय होता है, जीवन-मोही नहीं। संलेखना

मरण को आमंत्रित करने की विधि नहीं है पर अपने आप आने वाली मृत्यु के लिए निर्भय तैयारी मात्र है। उसी के बाद संथारे का भी अवसर आ सकता है। इस तरह यह सारा विचार अहिंसा और तन्मूलक सदगुणों की तन्मयता में से ही आया है। जो आज भी अनेक रूप से शिष्टसंमत है। राधाकृष्णन ने जो लिखा है कि बौद्ध-धर्म 'स्युसाइड' को नहीं मानता सो ठीक नहीं है। खुद बुद्ध के समय भिन्दु छन्न और भिन्दु वल्कली ने ऐसे ही असाध्य रोग के कारण आत्मवध किया था जिसे तथागत ने मान्य रखा। दोनों भिन्दु अप्रमत्त थे। उनके आत्मवध में फर्क यह है कि वे उपवास आदि के द्वारा धीरे-धीरे मृत्यु की तैयारी नहीं करते किन्तु एक बारगी शस्त्रवध से स्वनाश करते हैं जिसे 'हरीकरी' कहना चाहिए। यद्यपि ऐसे शस्त्रवध की संमति जैन ग्रन्थों में नहीं है पर उसके समान दूसरे प्रकार के वधों की संमति है। दोनों परम्पराओं में भूल भूमिका सम्पूर्ण रूप से एक ही है। और वह मात्र समाधिजीवन की रक्षा। 'स्युसाइड' शब्द कुछ निध सा है। शस्त्र का शब्द समाधिमरण और पंडित मरण है, जो उपयुक्त है। उक्त छन्न और वल्कली की कथा अनुक्रम से मज्झिमनिकाय और संयुक्तनिकाय में है। लंबा पत्र इसलिए भी उपयोगी होगा कि उस एकाकी जीवन में कुछ रोचक सामग्री मिल जाय। मैं आशा करता हूँ यदि संभव हो तो पहुँच दें।

पुनश्च—

नमूने के लिए कुछ प्राकृत पद्य और उनका अनुवाद देता हूँ—

'मरणपडियारभूया एसा एवं च ण मरणणिमित्ता जह गंडच्छेअकिरिया णो आयविराहरूपा ।'

समाधिमरण की क्रिया मरण के निमित्त नहीं किन्तु उसके प्रतिकार के लिए है। जैसे फोड़े को नस्तर लगाना, आत्मविराधना के लिए नहीं होता।

'जीवियं नाभिकंखेज्जा मरणं नावि पत्थए ।'

उसे न तो जीवन की अभिलाषा है और न मरण के लिए वह प्रार्थना ही करता है।

'अप्पा खलु संथारो हवई विसुद्धचरित्तमि ।'

चरित्र में स्थित विशुद्ध आत्मा ही संथारा है।

ता० ५-२-४३

